भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार

स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड – ६

अनुक्रमणिका

श्लोक - ४५

संगति :- पिछले श्लोक में अज्ञान की निवृत्ति की आवश्यकता बताई गई। अज्ञान की निवृत्ति होने पर जो हम पूर्ण दिव्य स्वरूप है उसी की मानो कि प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इस अज्ञान की निवृत्ति का अभिप्राय क्या होता है? क्या हम अपने आपको आत्मस्वरूप मान लेते है, अथवा अज्ञान की निवृत्ति होकर पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती है? अतः अज्ञान की निवृत्ति का आशय समझना चाहिए। अज्ञान की निवृत्ति का आशय यह होता है कि वर्तमान की हमारी धारणाओं को ऐसे अवलोकन किया जाय कि स्व के सम्बन्ध में समस्त काल्पनिक पहलूओं का निषेध हो जाय। इसके लिए सदैव विचार का केन्द्रबिन्दु जीव ही होना चाहिए। इसके लिए जीव के बारे में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को आचार्यश्री प्रतिपादन करते हैं।

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन्दृष्टे निवर्तते।

अन्वय :- **भ्रान्त्या** - भ्रम से, **स्थाणौ** - स्थाणु में, **पुरुषवद्** - पुरुष की तरह, **तस्मिन्** - उस, **ब्रह्मणि** -ब्रह्म में, **जीवता** - जीवभाव, **कृता** - किया है, **जीवस्य** - जीव के, **तात्त्विके रूपे** - तात्त्विक रूप को, **दृष्टे** - जानने पर, **निवर्तते** - (जीवभाव) निवृत्त हो जाता हैं।

श्लोकार्थ :- जैसे स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति हो जाती है और जहां सच्चाई जानी तो वह दृष्टि निवृत्त हो जाती है। वैसे ही अपनी ब्रह्मस्वरूपता पर जीवत्व की भ्रान्ति हुई है। जीव के तात्त्विक स्वरूप को जानने पर जीवभाव निवृत्त हो जाता है।

व्याख्या :- हम वस्तुतः एक अखण्ड परिपूर्ण चेतन सत्ता है। किन्तु अपने इस वास्तविक स्वरूप के बारे में हम में अज्ञान विद्यमान है। जब भी अज्ञान होता है, तो साथ ही विपरीत भावनाएं अर्थात् कल्पनाएं अपना सर उठ़ाती है। जैसे किसी अन्धकार में पेड़ के ठूंठ को देखते हैं, किन्तु उसके सत्य का हमें पता नहीं होता है तो उसमें चोरादि की कल्पना कर दी जाती है।

ठीक उसी प्रकार हमें अपने बारे में अज्ञान होने की वजह से अपने बारे में विविध कल्पनाएं की जाती है, और वह कल्पना होती है अपने बारे में जीवत्व की कल्पना। आज अपने बारे में जब हम अपने आप को अनात्म उपाधियों के धर्मों से युक्त देखते हुए अपने आपको सीमित मानने लगते हैं, उसे ही जीवभाव कहा जाता है। इस जीवभाव की निवृत्ति अर्थात् अपने बारे में अनात्मा व सीमितता की कल्पना को समाप्त करना होगा। इसके लिए सर्व प्रथम विचारपूर्वक अपने उपर से समस्त कल्पनाओं को शान्त किया जाना चाहिए।

आज अपने बारे में जो समझ रहे हैं वह सत्य है कि झूठ़ा, इस पर विचार किया जाना चाहिए। सत्य हमारा अपने बारे में निरपेक्ष परिचय होता है, तथा सापेक्ष परिचय मिथ्या है। हमारा वह परिचय जो किसी दुन्यवि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति अथवा हमारी इस अनात्म उपाधि विशेष से प्राप्त होता है, उसे मिथ्या जानते हुए निश्चय करना चाहिए कि वह हम नहीं है। इस प्रकार जब समस्त कल्पनाओं को नकारा जाता है तो जो भी अवशिष्ट रहता है वह ही हमारा सत्य है। हमारा वह परिचय जो अभी तक के समस्त परिचय का अर्थात् इस जीवभाव का भी अधिष्ठान ब्रह्म है। उसका होना किसी की वजह से नहीं है। इस प्रकार शास्त्र और गुरु से प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करके जीवभाव को समाप्त कर उसके अधिष्ठान ब्रह्म को जाना जाता है।

तब ही समस्त संसार की निवृत्ति होकर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है।

श्लोक - ४६

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि जीव भाव को अपना सत्य समझ लेना वह भ्रम मात्र ही है। जिस समय शास्त्र और गुरु प्रमाण से यह जान जाते हैं कि हमारा जीवभाव एक भ्रम रूप ही है, वास्तविक तत्त्व तो ब्रह्म है, उसके साथ ही यह दुःख रूप संसार की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु यह प्रश्न होता है कि - अपने आप को ब्रह्मस्वरूप जानने से यह जगत् दिखता ही रहता है, अतः क्या इस ज्ञान से द्वैत एवं संसार की निवृत्ति कैसे होगी? इस संशय के समाधान रूप आचार्यश्री आगे का श्लोक बताते हैं।

तत्त्वस्वरूपानुभवाद् उत्पन्नं ज्ञानमंजसा।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत्॥

अन्वयार्थ :- **तत्त्वस्वरूप अनुभवाद्** - तत्त्व के स्वरूप के अनुभव से, **अहं-मम इति** - 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार का, **अज्ञानं** - अज्ञान, **अंजसा** - तत्काल, **बाधते** - दूर हो जाता है, **दिग्भ्रमादिवत्** - जैसे कि दिशाओं के सही ज्ञान से तत्सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाता है।

श्लोकार्थः- तत्त्व ज्ञान से 'मैं' और 'मेरा' यह अज्ञान ऐसे ही तत्काल दूर हो जाता है, जैसे कि दिशाओं के सही ज्ञान से तत्सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाता है।

व्याख्या :- भेदबुद्धि की वजह जगत् का दीखना नहीं है। किन्तु अपना सत्य नहीं जान कर 'मैं' को देहादि उपाधि स्वरूप ही मान लेना है। अतः जगत् के समाप्त होने की अपेक्षा नहीं है, किन्तु स्व के वास्तविक स्वरूप को जानने की अपेक्षा है। जब अपना तात्त्विक स्वरूप ब्रह्म है, यह जान लिया जाता है, तब अपने उपर से झूठी कल्पना रूप देहादि के आरोपण से मुक्त हो जाते हैं। जगत् के भी तात्त्विक स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है, और सर्व ब्रह्म स्वरूप ही देखने में आता है। यह विवेक दृष्टि से देखने की बात है, इसके लिए नाम-रूप को समाप्त होने की अपेक्षा नहीं है।

अज्ञान का अभिप्राय होता है कि अपने वास्तविक स्वरूप को न जानते हुए अपने आप को इन उपाधियों से युक्त अतः सीमित जान लेना। अपने आप को सीमाओं से बद्ध मान लेना यह ही जीव भाव है। जब हम अपना सत्य नहीं जान रहे है तब अपने आप को उपाधि स्वरूप जान रहे है, अर्थात् इन देहादि उपाधियों में 'मैं' का प्रक्षेपण करना है। जब जब अपने आप को देह आदि समझा जाता है, तब तब इनसे सम्बद्ध जो कुछ भी होता है उसमें 'मेरापना' की भावना उत्पन्न होती है। एवं एक ही नाम-रूपात्मक जगत् में 'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा' का भेद उत्पन्न हो जाता है।

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'मैं-मेरा' यह एक व्यावहारिक पहलू है। अतः जब तक प्रारब्धवशात् यह उपाधि बनी रहती है तब तक व्यवहार तो होगा, किन्तु 'मैं-मेरा' को सत्य मानने की वजह से जो सांसारिक पीड़ाओं का अनुभव होता था, उनसे मुक्ति हो जाती है और जीवन जीने का नया उत्साह और आनन्द की अनुभूति होती है।

जैसे कोई मुसाफिर किसी जंगल के क्षेत्र में विचरते हुए रास्ता भूल जाता है, सही रास्ता नहीं मिलने की वजह से वह पीड़ा व भय का अनुभव करता है। जिस समय उसे पूर्वादि

दिशाओं का भ्रम समाप्त हो जाता है, तब वह समस्त भय से मुक्त होकर अपने अन्दर पुनः जंगल में विचरण का आनन्द और उत्साह के नये संचार का अनुभव करता है। अतः इस संसार रूप अरण्य में आनन्दपूर्वक विचरने के लिए अपनी वास्तविकता को जानना चाहिए। चर्म-चक्षु से देख पाना समस्या का कारण नहीं, आशीर्वाद है, ज्ञान-चक्षु का न खुलना ही समस्या है।

श्लोक - ४७

संगतिः- पिछले श्लोक में देखा कि जैसे कोई रास्ता भूले हुए मुसाफिर को दिशा का भान हो जाने पर वह रास्ता भी जान जाता है और विचरने का आनन्द भी लेता है। वैसे ही सत्य स्वरूप तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर जीवन को और भी आनन्दपूर्वक जीया जा सकता है। यह सत्य का ज्ञान होने का अभिप्राय क्या है इस प्रश्न के उत्तर रूप आचार्य ज्ञान के स्वरूप को ही आगे के श्लोक में बताते हैं।

सम्यक् विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
एकं च सर्वमात्मानं ईक्षते ज्ञानचक्षुषा।

अन्वयार्थ :- **सम्यक्-विज्ञानवान्** - सम्यक्ज्ञान को प्राप्त हुआ, **योगी** - योगी, **ज्ञान-चक्षुषा** - ज्ञान-चक्षु द्वारा, **अखिलं जगत्** - सम्पूर्ण जगत को, **आत्मनि एव** - अपने आत्मा में ही, **ईक्षते** - देखता हैं, **च** - और, **सर्वम्** - सम्पूर्ण भूतों को, **एकं** - एक को, **आत्मानं** - अपनी आत्मा ही, **ईक्षते** - देखता है।

श्लोकार्थ :- सम्यक्ज्ञान को प्राप्त हुआ योगी ज्ञान-चक्षु द्वारा सम्पूर्ण जगत को अपने आत्मा में और सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा ही देखता है।

व्याख्या :- यह नामरूपात्मक जगत् विविधतापूर्ण है। जब हम स्वयं को औपाधिक दृष्टि से ही जानते है तो यहां अनेकों स्तर पर भेद का अनुभव होता है। हम द्वैतपूर्ण जगत् में आकर खड़े हो जाते हैं। स्वयं को इस जगत् के एक अंश की तरह अनुभव करते है तथा अन्य समस्त जीवों के साथ भी हम भेदपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जो कि वह एक पीड़ा का कारण बन जाता है। जिसने गुरु के श्रीचरणों में बैठ़कर शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया है और आत्मविषयक विवेक उत्पन्न किया है, वह भी इसी द्वैत जगत् में रहता सा प्रतीत होता है और व्यवहार भी करता है किन्तु उनकी दृष्टि विलक्षण होती है। चर्मचक्षु से जो दीखता है उसे वह सत्य नहीं जानता है किन्तु वह विवेक पूर्ण दृष्टि से जगत् को देखता है। इस विवेक युक्त दृष्टि को ही ज्ञानचक्षु कहा जाता है।

ज्ञानचक्षु यह दिखाती है कि हम यह शरीरादि उपाधियों से सीमित नहीं है, किन्तु इन उपाधियों से परे एक चेतन सत्ता मात्र है। जो सब को समान रूप से व्याप्त करती है। जैसे समुद्र की समस्त छोटी-बड़ी लहरों में रूप की दृष्टि से भिन्नता होने के बावजूद उन समस्त को जल तत्त्व व्याप्त करता है। जल की वजह से समस्त लहरों का एवं समुद्र का भी अस्तित्व है। जल ही समस्त लहरों की आत्मा है तथा समस्त लहरें जल तत्त्व में ही समाई हुई है अर्थात् जल के उपर ही सब का अस्तित्व निर्भर है। यह विवेक की दृष्टि है। वैसे ही ज्ञानवान स्वयं को जल स्थानीय चेतन तत्त्व जानता है। वह अपने आप को सब के आत्मस्वरूप जानता है

तथा समस्त जगत् को चेतन स्वरूप स्व में अर्थात् अपने उपर आश्रित जानता है।

इसी वजह से ज्ञानवान् का किसी के साथ भी राग-द्वेष युक्त व्यवहार नहीं होता है। इस विवेक चक्षु से युक्त होकर जगत् को देखना ही ज्ञान का लक्षण है।

श्लोक - ४८

संगति :- पिछले श्लोक में आचार्य ने बताया कि ज्ञानवान् इस जगत् को विवेक दृष्टि से देखता है, कि सब कुछ हम ही में विराजमान है, तथा सब के आत्मतत्त्व भी हम ही हैं। आचार्यश्री आगे के श्लोक में ज्ञान का स्वरूप और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उनमें भेदबुद्धि पूर्णतया समाप्त हो जाती है :-

आत्मैवेदं जगत्सर्वं आत्मनोऽन्यन्न विद्यते।
मृदौ यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते॥

अन्वयार्थ :- **यद्वद्** - जैसे, **घटादीनि** - घटादि, **मृदौ** - मिट्टी से (भिन्न नहीं है), **इदं** - यह, **सर्वं** - समस्त, **जगत्** - जगत्, **आत्मा एव** - आत्म-स्वरूप ही है, **आत्मनः** - आत्मा से, **अन्यत्** - भिन्न, **न विद्यते** - (अन्य किसी का भी) अस्तित्व नहीं है। **सर्वम्** - (वह) सब को, **स्वात्मानं** - अपनी आत्मा, **ईक्षते** - देखता हैं।

श्लोकार्थः- यह समस्त जगत् आत्म-स्वरूप ही है, आत्मा से भिन्न अन्य किसी का भी अस्तित्व नहीं है। जैसे घटादि मिट्टी मात्र ही है, उससे भिन्न नहीं है। वैसे ही सब कुछ आत्मा ही हैं।

व्याख्या :- प्रत्येक व्यक्ति की अज्ञान की अवस्था में अनात्मा को सत्य मानकर उसमें आत्मबुद्धि हुआ करती है। अतः एक नाम-रूप विशेष के प्रति महत्व बुद्धि होकर उसमें आसक्ति की सम्भावना हो जाती है। साधक आत्मा और अनात्मा का विवेक करते हुए यात्रा आरम्भ करता है। इस विवेक के द्वारा जो कुछ दृश्य व नामरूपात्मक जगत् है-वह सब मिथ्या है, तथा जो दृष्टा रूप उसका अधिष्ठान है वह ही सत्य है, इस प्रकार जाना जाता है। जब समस्त दृश्य जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, तब एक मात्र चेतन सत्ता ही अवशिष्ट रहती है।

जैसे घड़े के नाम-रूप विशेष के प्रति महत्वबुद्धि होने पर इस प्रकार से समझा जाता है कि घड़े का नामरूप मिट्टी का विकार मात्र ही है, उसका सत्य अधिष्ठानभूत मिट्टी ही है। जब नामरूप विशेष के प्रति मिथ्यात्व निश्चय होकर महत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है, तब यह बताया जा सकता है कि समस्त घट, कुल्लड़ आदि का एक ही तत्त्व मिट्टी है। वह उसके कण-कण में व्याप्त है। मिट्टी से भिन्न किसी भी घट आदि का अस्तित्व नहीं है।

समस्त नाम रूपात्मक जगत् के प्रति मिथ्यात्व निश्चय हो जाने पर नामरूप विशेष के प्रति महत्व समाप्त हो जाता है। तब उसके प्रसाद स्वरूप यह ही दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि सब कुछ हमारी आत्मा मात्र ही है। हम से पृथक् किसी का भी अस्तित्व ही नहीं है। जो इस प्रकार से अपने आपको जानता है वह समस्त रागादि रूप संसार से पूर्णतया मुक्त है।

श्लोक - ४६

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि सर्वप्रथम जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय करके आत्मा की सत्यता का साक्षात्कार किया जाता है। विवेक के प्रसाद स्वरूप यह दृष्टि प्राप्त होती है, कि सब कुछ हमारी आत्मा मात्र ही है, हम से पृथक् किसी का भी अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से युक्त मनुष्य ही मुक्त होता है। अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर उसमें निष्ठ होने के लिए अपने स्वरूप के प्रति सतत जगे रहते हुए उपाधियों में से सत्यता की बुद्धि की पूर्ण निवृत्ति आपेक्षित है। यह आगे के श्लोक में आचार्य बता रहे हैं।

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत्।
सच्चिदानन्दरुपत्वात् भवेद्भ्रमरकीटवत्॥

अन्वयार्थ :- **कीटवत्** - जैसे कीट, **भ्रमर** - भ्रमर (भ्रमर का ध्यान करते हुए) **भवेद्** - हो जाता है, **जीवन्मुक्तः** - (वैसे ही) जीवन्मुक्त, **पूर्व-उपाधि-गुणान्** - पूर्व वर्णित उपाधि के गुणों को, **त्यजेत्** - त्याग करता हैं, **तद्-विद्वान्** - वह ज्ञानवान्, **सच्चिदानन्दरूपत्वात्** - सच्चिदानन्द स्वरूप होने से, (वह ही हो जाता है।)

श्लोकार्थ :- जैसे कीट सतत भ्रमर का ध्यान करते हुए वह ही हो जाता है। वैसे ही जीवन्मुक्त पूर्व वर्णित उपाधि के गुणों का त्याग करके तथा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का सतत घ्यान करते तत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

व्याख्या :- जो जैसा सतत ध्यान करता है, वह वैसा ही हो जाता है। जैसे भ्रमर मिट्टी का घरोंदा बनाता है। उसमें वह अपना अण्ड़ा रख देता है। कुछ समय बाद उसका लारवा प्रकट होता है, जिसकी आकृति भ्रमर से बिलकुल अलग होती है। लेकिन कुछ दिनों बाद वह लारवा भ्रमर की आकृति वाला बन जाता है। इस प्राकृतिक धटना से मनीषि लोग यह शिक्षा लेते हैं कि इस परिवर्तन के पीछे लारवा महोदय के द्वारा भ्रमर का सतत घ्यान मानो एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वैसे ही एक ज्ञानवान व्यक्ति जब सतत अपने स्वस्वरूप का घ्यान बनाए रखता है, तब शीध्र ही वह तद्रुप हो जाता है।

निदिघ्यासन की तीव्रता एवं काल अपनी विपरीत भावनाओं की तीव्रता एवं दृढता पर निर्भर करती हैं। लक्ष्य अपने सत्य में सतत जगे रहना है। उपाधि के स्तर पर व्यवहार के समय यदि अपनी सत्यता का भान चूक गएं तो 'प्रमादो वै मृत्युः' । अतः अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के प्रति जाग्रति होनी चाहिए। उपाधि जड़, अनित्य और अपूर्ण है। उपाधि के स्तर पर व्यवहार के समय इसका ध्यान रहें कि हम जड़ स्वरूप नहीं किन्तु चेतन स्वरूप है। हम शाश्वत, नित्य तत्त्व है, न कि यह अनित्य, जन्म-मरणवान् उपाधि। तथा हम ही आनन्द स्वरूप है। उपाधियों की सीमाएं-मर्यादा के बावजूद हम पूर्ण, आनन्द स्वरूप तत्त्व है। यह सतत स्मरण बनाएं रखना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञान के उपरान्त सतत इस प्रकार की जाग्रति ही विद्वान् को जीवन्मुक्त बनाती है। जीवन्मुक्त का अभिप्राय होता है कि 'जीवन्' अर्थात् जीवित रहते हुए ही मुक्ति। जीवन्मुक्त उपाधि की सीमाओं में रहने के बावजूद हम मुक्त ही है, यह अनुभव करता है। यह इस ज्ञान का विशेष प्रसाद है तथा ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है।

श्लोक – ५०

संगति :– पिछले श्लोक में हमने देखा कि एक ज्ञानवान व्यक्ति जब सतत अपने स्वस्वरूप का ध्यान बनाए रखता है, तब शीध्र ही वह तद्रुप हो जाता है। इस प्रकार की जाग्रति ही विद्वान् को जीवन्मुक्त बनाती है, यह ही इस ज्ञान का विशेष प्रसाद तथा ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है। अब आगे के श्लोक में संसार सागर से आरम्भ करते हुए आत्मस्वरूपता में स्थिरता तक की समस्त अध्यात्म यात्रा का स्वरूप बतलाते हैं।

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान्।
योगी शान्तसमायुक्त आत्मारामो विराजते।

अन्वयार्थ :– **मोह–अर्णवं** – मोह रूपा सागर को, **तीर्त्वा** – पार करके, **राग–द्वेष–आदि राक्षसान्** – राग–द्वेष रूपी राक्षसों को, **हत्वा** – मार कर के, **शान्ति–समायुक्तः** – शान्ति से एकरूप हुआ, **योगी** – योगी, **आत्मारामः विराजते** – आत्मा में ही रमण करता है।

श्लोकार्थ :– मोहसागर को पार करने और राग–द्वेष रूपी राक्षसों को मारने के पश्चात् शान्ति से एकरूप हुआ योगी आत्मा में ही रमण करता है।

जीव की अध्यात्म यात्रा एक तीर्थ यात्रा के समान है। जिसे हमें पौराणिक प्रसंग श्रीराम के सीताजी से विरह में अच्छी प्रकार से अनुभव में आती है। जिसमें श्रीराम आत्म स्वरूप हैं। राम का अर्थ ही होता है सर्वज्ञ एवं जो सब के हृदय में रमण कर रहे हैं। ऐसे प्रभु की प्रियतमा सीता को दस सिरोंवाले रावण ने अपहृत कर लिया है।

सीता शान्तिस्वरूपा हैं। रावण मनुष्य के अज्ञान और तज्जनित सांसारिक जीव का प्रतीक है। रावण के दसमुख हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। अज्ञान के कारण ही अपने अन्दर छोटेपने एवं अल्पता के अनुभव को सत्य मान कर उसे दूर करने की प्रवृत्तियां हुआ करती हैं। उसे दूर करने के लिए जगत् के विषयों के प्रति प्रवृत्ति और उसे प्राप्त करने के उपरान्त उसका भोग विषयों के प्रति राग–द्वेष को जन्म देता है। इसके कारण वह जीव और भी भोग में लिप्त रहता है और अशान्ति का अनुभव करता है। इन भोग परायण इन्द्रियों से एक अहंकारी एवं अतृप्त जीव परं शान्ति को पाना चाहता है। यह एक विड़म्बना है कि इस प्रक्रिया में वो सत्य से दूर होकर मायावी सीता को ही वास्तविक सुख एवं शान्ति का स्रोत मान बैठता है।

इस प्रकार जीव इस मोह रूप महासागर में विराजमान है, तथा उनके मन की शान्ति हर ली गई है। यहां से वह इस शान्ति की खोज में दुर्गम अध्यात्म यात्रा आरम्भ करता है। इस यात्रा में विविध भालू और बन्दर रूप दैवी गुण तथा लक्ष्मणजी रूप वैराग्य और हनुमानजी रूप भक्ति की सहायता ली जाती है। इन सबकी सहायता से जीव इस मोह रूपी महासागर को पार कर रागद्वेष रूपी राक्षसों को समाप्त कर बाद में रावण रूपी जीवभाव का वध करके आत्मस्वरूप में स्थित होकर परं शान्ति स्वरूप भगवती सीताजी से पुनर्मिलन को प्राप्त होता है।

इस प्रकार भक्ति से मन को निर्मल कर, गुरु के चरणों में बैठकर तत्त्व–ज्ञान से अज्ञान को नष्ट करें। एवं स्वस्वरूप तक की यात्रा एक तीर्थयात्रा रूपा है।

श्लोक - ५१

संगति :- पिछले श्लोक में 'आत्म-ज्ञान' को तीर्थ यात्रा स्वरूप बताया। जो मन को शुद्ध कर सद्गुण सम्पन्न होकर गुरु के चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए। इस ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होकर भवसागर से पार जाया जाता है, और इसी के साथ स्वस्वरूप में अवस्थान करके परं शान्ति का अनुभव होता है। अब आगे के श्लोक में जीवन्मुक्त के लक्षण को बताते हैं।

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः।
घटस्थदीपवत्स्वस्थः स्वान्तरेव प्रकाशते॥

अन्वयार्थ :- **बाह्य** - बाह्य, **अनित्य** - अनित्य, **सुख-आसक्तिं** - सुख की आसक्ति को, **हित्वा** - त्याग करके, **आत्म-सुख-निर्वृतः-स्वस्थः** - स्वस्वरूप के आनन्द से स्थित, (जीवन्मुक्त अपने आप में उसी प्रकार सन्तुष्ट रहता है), **घटस्थ-दीपवत्** - जैसे घड़े में स्थित दीपक, **स्वान्तः एवं** - अपने आप ही, **प्रकाशते** - प्रकाशित होता है।

श्लोकार्थः- बाह्य अनित्य सुख की आसक्ति का त्याग करके स्वस्वरूप के आनन्द से स्थित जीवन्मुक्त अपने आप में उसी प्रकार सन्तुष्ट रहता है, जैसे घड़े में स्थित दीपक अपने आप प्रकाशित होता है।

व्याख्या :- प्रत्येक जीव को आनन्द का अनुभव तीन प्रकार का होता है। जिसे सात्विक, राजसी और तामसी कहा जा सकता है। तामसी आनन्द में जीव निष्क्रियता और प्रमादजनित जड़ता के आनन्द का अनुभव करता है। राजसी व्यक्ति विषयसुख का आनन्द लेता है। इसमें जीव अपने स्वार्थ के लिए उपार्जित अनुभूति से सुख पाता है और 'मैं' की प्रधानता से युक्त रहता है। अतः इस आनन्द में अहं की सन्तुष्टि ही प्रधान रहती है। सात्विक आनन्द कुछ विलक्षण प्रकार का होता है। जिसमें निःस्वार्थता और सेवा की प्रधानता से आनन्द की प्राप्ति होती है। सात्विक आनन्द की बाकी दोनों आनन्द से विलक्षणता यह होती है कि अन्य दोनों में जीव की अनुभूति के पीछे 'हमें क्या अच्छा लगता है' इस प्रकार 'मैं' की संतुष्टि से उत्पन्न कार्य व अनुभूति का आनन्द होता है। जब कि सात्विक आनन्द में 'मैं' गौण होता है। 'हमें यह अच्छा लगता है का गणित नहीं होते हुए परिस्थिति की क्या आवश्यकता है' यह देखते हुए औचित्य का आश्रय लिया जाता है और इस प्रक्रिया में जैसे जैसे 'मैं' गौण होता जाता है, वैसे वैसे आनन्द में वृद्धि होती जाती है, किन्तु यह तीनों आनन्द में समानता यह है कि अपने से पृथक् किसी विशेष स्थिति के अनुभव कर्ता बने रहने के उपरान्त आनन्द का अनुभव है। सात्विकता का आनन्द उत्कृष्ट प्रकार का आनन्द तो है किन्तु यह ज्ञान की अवस्था का पर्यवसान रूप नहीं है। ज्ञान की अवस्था में स्थित ज्ञानवान का आनन्द किस प्रकार का होता है वह इस श्लोक में बताया गया है।

सर्व प्रथम साधक अपने से पृथक् समस्त का मिथ्यात्व निश्चय करता है। जैसे जैसे यह मिथ्यात्व निश्चय होता जाता है वैसे वैसे इस बाह्य विषयक आनन्द प्राप्ति की अनावश्यकता लगने लगती है। बाह्य विषय सुख से विरत होने लगता है। साथ ही इस जीव की संतुष्टि के लिए बाह्य किसी भी प्रकार का सुख लेना वह निःसार प्रतीत होने लगता है - इस प्रकार सात्विक होता जाता है। अन्ततः सब अनुभवों के मिथ्यात्व का निश्चय होने के साथ इस अनुभव कर्ता जीव का भी मिथ्यात्व निश्चय किया जाता है। जब जीव का पूर्णतया मिथ्यात्व निश्चय हो गया तो फिर उसके अधिष्ठान रूप जो हम विराजमान है उसी में स्थित होता है, और यहां अनुभव कर्ता, अनुभव का विषय और अनुभूति यह त्रिपुटी पूर्णतया बाधित है। यह

स्वस्वरूप में अवस्थान ही जीवन्मुक्त की अवस्था है, जो घड़े में के दीपक की तरह स्वयं प्रकाशित विराजमान और अपने आप में संतुष्ट है।

श्लोक – ५२

संगति :– पिछले श्लोक में आचार्यश्री ने जीवन्मुक्त के लक्षण द्योतित करते हुए बताया कि ज्ञान की अवस्था में स्थित ज्ञानवान का आनन्द किस प्रकार का होता है? जहां अनुभव कर्ता, अनुभव का विषय और अनुभूति यह त्रिपुटी पूर्णतया बाधित है। यह स्वस्वरूप में अवस्थान ही जीवन्मुक्त की अवस्था है, जो घड़े में स्थित दीपक की तरह स्वयं प्रकाशित विराजमान और अपने आप में संतुष्ट है। जीवन्मुक्त के और भी कुछ लक्षण आगे के श्लोक में आचार्य बता रहे हैं।

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैः अलिप्तो व्योमवन्मुनिः।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेत् असक्तो वायुवच्चरेत्।।

अन्वयार्थ :– **मुनिः** – मुनि, **उपाधिस्थः अपि** – उपाधियों में स्थित होकर भी, **व्योमवत्** – आकाश की तरह, **तद् धर्मैः** – उनके गुणों से, **अलिप्तः** – अलिप्त रहता है, **सर्ववित्** – सब कुछ जानते हुए भी, **मूढ़वत्** – मूढ की तरह (रहता है), **वायुवत्** – वायु की तरह, **असक्तः** – असंग होकर, **चरेत्** – विचरण करता है।

श्लोकार्थ :– ज्ञानवान् उपाधियों में स्थित होकर भी आकाश की तरह उनके गुणों से अलिप्त रहता है। सब कुछ जानते हुए भी उनका व्यवहार मूढ की तरह होता है तथा वह वायु की तरह पूर्णरूप से असंग होकर विचरण करता है।

व्याख्या :– प्रत्येक जीव को शरीरादि उपाधि प्रारब्धवशात् प्राप्त होती है, तथा वह तब तक बनी रहती है जब तक प्रारब्ध शेष है। मुनि, जो कि ज्ञान से युक्त होकर जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त हो गया, उनकी भी उपाधि का अस्तित्व प्रारब्ध शेष रहने तक बना रहता है। वह इस सीमित उपाधियों के अन्तर्गत रहते हुए भी स्वयं को उन सब से परे आकाशवत् एक अखण्ड सत्तारूप जानता है। अतः वह उपाधियों के दोषों से असंग व मुक्त रहता है। जैसे आकाश घटादि उपाधियों में रहते हुए भी न उससे सीमित होता है न ही उसके दोषों से लिप्त होता है।

वह प्रत्येक परिस्थिति का अनुभव करता है तथा उसके अनुरूप प्रतिक्रिया भी करता है। किन्तु उनके व्यवहार मात्र से कोई उस ज्ञानवान् को पहचान नहीं सकता है। वह कर्म को उतनी ही निष्ठा व लगनपूर्वक करता दिखाई पड़ता है जैसा एक अज्ञानी करता है। किन्तु उन सब से वह असंग ही हुआ करता है। उनका व्यवहार व विविध प्रतिक्रियाएं स्वयं के पूर्णता के ज्ञान की वजह से निरपेक्ष व निःस्वार्थता पूर्वक होती है। जिसमें मात्र लोक कल्याण की भावना ही निहित रहती है। उनकी प्रतिक्रियाएं संस्कार के वशीभूत न होते हुए वर्तमान में रह कर परिस्थिति की आवश्यकता के अनुरूप हुआ करती है। स्वयं तो उन सब से पूर्णतया असंग ही रहता है। जैसे वायु सर्वत्र विचरण करती है। किन्तु समस्त सुगन्ध व दुर्गन्ध आदि से अप्रभावित – असंग हुआ करती है। सीमित उपाधि में रहने पर भी यदि स्वस्वरूप के ज्ञान से युक्त होते है तो उपाधि के धर्म तथा परिस्थितियां बन्धनरूप नहीं हुआ करती है।

श्लोक - ५३

संगति :- पिछले श्लोक में आचार्य ने जीवन्मुक्त के लक्षण बताते हुए कहा कि जीवन्मुक्त इसी उपाधि में रहते हुए इस जगत् में विचरण भी करता है, किन्तु वह न उपाधि के धर्मों से लिप्त होता है और न ही जगत् के विषयों के प्रति आसक्त होता है। इस ज्ञानवान् की उपाधि के नष्ट हो जाने पर उसे भी अन्य शरीर की प्राप्ति होती है वा नहीं यह प्रश्न का समाधान आचार्य आगे के श्लोक में करते हैं।

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः।
जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा।।

अन्वयार्थ :- **उपाधि-विलयाद्** - उपाधियों के नष्ट हे जाने पर, **मुनिः** - मुनि, विष्णौ - सर्वव्यापक विष्णु में, **निर्विशेषं** - निर्विशेष में, **विशेत्** - विलीन हो जाता है। **यथा** - जैसे, **जले जलं** - पानी में पानीं, **वियद्** - आकाश, **व्योम्नि** - आकाश में, **वा** - तथा, **तेजः** - तेज, **तेजसि** - तेज में विलीन हो जाता है।

श्लोकार्थः- उपाधियों के नष्ट हे जाने पर मुनि सर्वव्यापक विष्णु स्वरूप तत्त्व में विलीन हो जाता है। उसी प्रकार जैसे जल जल में, आकाश आकाश में, तथा तेज तेज में विलीन हो जाता है।

व्याख्या :- जब तक शरीर के प्रारब्धकर्म शेष होते हैं, तब तक शरीर का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु जहां उपाधि के प्रारब्ध समाप्त हुए तो इसके साथ ही यह उपाधि नष्ट हो जाती है तथा उसमें से जीव अपने सूक्ष्म शरीर समेत वासना-संस्कार और कर्मवशात् अन्य उपाधि को धारण करता है। यह उस जीव की कहानी हुआ करती है, स्वरूप के अज्ञान से युक्त स्वयं को कर्ता-भोक्ता जीव मान रहा है। जिसने स्वयं को ब्रह्मस्वरूप जान लिया है। उन ज्ञानवान् की उपाधि का जब तक अस्तित्व रहता है तब तक जीव का भी अस्तित्व बना रहता है। जिस प्रकार से जब तक दर्पण सामने है, तब तक प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती रहती है तथा उसका उचित प्रयोग भी होता है। किन्तु सत्य को जानने की वजह से स्वयं को प्रतिबिम्ब नहीं मानकर व्यवहार नहीं होता है। उसी प्रकार उपाधि के प्रारब्ध रहने तक जीव की प्रतीति होती रहेगी किन्तु स्वयं को कर्ता-भोक्ता जीव मात्र मानकर नहीं जीता है। जीवभाव का प्रयोग करते हुए लोकहित के लिए कर्म करता भी प्रतीत होता है।

प्रारब्ध की समाप्ति के साथ उपाधि की समाप्ति होने पर उन्हें कर्मवशात् अन्य उपाधि की प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि वह स्वयं को कर्ता नहीं मान रहा है इसलिए किसी भी कर्म के फल का भोक्ता नहीं होता है।

जैसे दर्पण के समाप्त होने पर प्रतिबिम्ब का बिम्ब में ही विलय हो जाता है। क्योंकि प्रतिबिम्ब की बिम्ब से पृथक् स्वतंत्र कोई सत्ता ही नहीं थी। उसी प्रकार प्रतीत जीव भी मानो सर्वव्यापक सत्ता में विलीन हो जाता है। जैसे जलाशय में स्थित घडे के फूट जाने पर उसमें का जल, जल में ही मिल जाता है। घटाकाश आकाश में विलीन हो जाता है। ठीक उसी तरह काल्पनिक भेद समाप्त होकर एक मात्र सर्वव्यापी सत्ता ही रहती है।

श्लोक – ५४

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि उपाधियों के नाश होने पर एक ही आत्मा रहती है। इसे अपनी आत्मा की तरह जान लेना ही जीवन का परं पुरुषार्थ है। अब आगे के श्लोक में आचार्य श्री इस ज्ञान की स्तुति करते हैं।

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नपरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

अन्वयार्थ :- **यत्** – जिस, **लाभात्** – लाभ से, **अपरः** – महान, **लाभः** – लाभ, न – नहीं है, **यत् सुखात्** – जिस सुख से, **अपरं** – महान, **सुखं** – सुख, **न** – नहीं है, **यत्** – जिसे, **ज्ञात्वा** – जानने के उपरान्त, **अपरं** – अन्य, **ज्ञानं** – जानना, **न** – नहीं रहता है, **तद्** – उसे, ब्रह्म – ब्रह्म, **अवधारयेत्** – जानो।

श्लोकार्थं :- जिसे प्राप्त करने के उपरान्त और कुछ पाने को शेष नहीं रहता है, जिसके सुख से महान और कोई सुख नहीं होता तथा जिसे जानने के उपरान्त अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता है, उसे ही ब्रह्म जानो।

व्याख्या :- प्रत्येक मनुष्य जीवन में विविध विषयों की प्राप्ति की इच्छा से युक्त दिखाई पड़ता है, तथा उन उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए सतत प्रयास में लगा रहता है। उन विविध इच्छाओं को यदि टटोला जाय तो उन सबकी गहराई में एक मात्र इच्छा समान रूप से दिखाई पड़ती है, वह है परं की प्राप्ति की इच्छा। परं अर्थात् वह जो देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न है। उनके जीवनभर के समस्त प्रयास और चेष्टाएं होती है, किन्तु यह सब व्यर्थ ही दिखाई देते हैं, क्योंकि जो भी अल्प जीव के प्रयास से प्राप्त वस्तु है, वह सदैव सीमित ही होती है। जब अपने समस्त प्रयासों की सीमाओं को जानकर गुरु के श्रीचरणों में बैठ़कर अपने बारे में ज्ञान प्राप्त करता है, तथा उसके माध्यम से अपने उपर किये हुए झूठे आरोपों का अपवाद करता है, तब वह अपनी ब्रह्मस्वरूपता को जान लेता है।

ब्रह्म ही परं तत्त्व है। आचार्य यहां बताते है कि 'यल्लाभात् नापरो लाभः' अर्थात् जिससे बढ़कर और कोई उपलब्धि की अपेक्षा नहीं रह जाती है। जो समस्त लौकिक उपलब्धियां है, वे सब सीमित और नाशवान हैं। अतः उन्हें प्राप्त करने पर किसी प्रकार की सन्तुष्टि नहीं हो पाती। समस्त विषय रूप उपलब्धियों से विलक्षण विषयी की आत्मा रूप है, वह ही ब्रह्म है।

वैसे ही विषयों के भोग का जो सुख है, वह भी विषय की तरह ही देशादि से सीमित नाशवान है। किन्तु जो उसे भोगने वाला भोक्ता है, उसके उपर विचार करने पर यह पता चलता है, कि हम ही सुख के स्रोत, सुखस्वरूप तत्त्व ब्रह्म है। अतः जो स्वयं को आनन्द स्वरूप जान लेता है, उसे अब अन्य कोई विषयानन्द की अपेक्षा नहीं रहती। अतः कहा कि 'यत्सुखात् नापरं सुखं' इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है। यह आनन्द स्वरूप तत्त्व ही शास्त्र प्रतिपादित ब्रह्म है।

इस प्रकार अन्य समस्त लौकिक विषयों के ज्ञान से विलक्षण यह विषयी के स्वरूप का ज्ञान है – जो कि विषय और विषयी आदि सब का आधारभूत तत्त्व है। यद्यपि यह सदैव उपलब्ध है, तथापि इसका मोक्षदायी 'ज्ञान' सब से महान उपलब्धि जैसा है, यह ही सब से महान सुख का द्वार है। यह ही मोक्षदायी तथा समस्त पुरुषार्थ की अवधि रूप ज्ञान है। यह ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। अतः उसे जीवन के परं पुरुषार्थ रूप जानते हुए समस्त साधना इसी की

सिद्धि के लिए होनी चाहिए।

श्लोक - ५५

संगति :- आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का परं लक्ष्य है। इसी से समस्त बन्धनों से मुक्ति होती है। अतः आचार्य श्री इस ज्ञान का महत्व समझाने के लिए विविध प्रकार से इस ज्ञान की स्तुति करते हैं।

यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥

अन्वयार्थ :- **यद्** - जिसे, **दृष्ट्वा** - देखने पर, **अपरं** - (उससे) महान, **दृश्यं** - देखने योग्य, **न** - नहीं है, **यद्** - जिसे, **भूत्वा** - पाने के उपरान्त, **पुनर्भवः** - फिर से संसार, **न** - नहीं है, **यत्** - जिसे, **ज्ञात्वा** - जानने के उपरान्त, **ज्ञेयं** - जानने योग्य, **अपरं** - और कुछ, **न** - नहीं रहता है, **तद्** - उसे, **ब्रह्म इति** - ब्रह्म ही, **अवधारयेत्** - जानें।

श्लोकार्थ :- जिसके दर्शन के पश्चात् और कुछ देखने को शेष नहीं बचता, जिसकी प्राप्ति के बाद भवसंसार नहीं रहता है, तथा जिसे जानने के उपरान्त अन्य कुछ भी ज्ञेय नहीं रहता है, उसे ही ब्रह्म जानें।

व्याख्या :- जीवभाव में रहने का अभिप्राय है - स्वस्वरूप के अज्ञान से युक्त, अपने आपको सीमित मानकर जीना। इसी को भवरोग कहा जाता है। भव का अर्थ होता है बनना। जब हम आज जैसे हैं जो भी हैं, अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हैं तब ही कुछ अन्य बनने की इच्छा होती है। अतः एक जीव के सतत प्रयास व चेष्टाएं चलती है कि हमें धनवान होना है, शान्त होना है, हमें सुखी होना है, हमें सन्तुष्ट होना है। इन समस्त चेष्टाओं के पीछे मूल भावना है कि हमें पूर्ण बनना है। सतत कुछ न कुछ बनने के द्वारा अपनी पूर्ण बनने की इच्छा को संतुष्ट करने की चेष्टा होती है। मानों कि कुछ न कुछ बनने का रोग लगा हुआ है, यह ही भवरोग है।

इसके अलावा जब तक अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हैं तब तक कुछ नए नए विषयों को पाने की और भोगने की इच्छा बनी रहती है। नए भोगों की उपलब्धि के लिए विविध विषयों के ज्ञान के नए आयामों को टटोला जाता है। एवं सतत हमारे विविध प्रयास मरते दम तक इसी दिशा में चलते रहते हैं। इसके बावजूद तृप्ति के लिए किए गए आजीवन के समस्त प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार की चेष्टा का अस्तित्व तब तक बना रहेगा कि जब तक अपने स्वस्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। जिस समय किसी साधक को जीवन के अनुभवों का विश्लेषण करने के द्वारा यह बात पता चल जाए कि हमारे प्रयास की दिशा कुछ गलत है। यह जानते हुए एक विनम्र जिज्ञासु बन कर गुरु के श्रीचरणों में समर्पित होता है। गुरु ऐसे जिज्ञासु को आत्मा का ज्ञान प्रदान करते हैं। साधन सम्पत्ति से युक्त साधक जब इस ज्ञान को प्राप्त करके अपनी आत्मस्वरूपता का साक्षात्कार कर लेता है, तो वह अपने आप को पूर्ण स्वरूप ब्रह्म तत्त्व जान लेता है। स्वयं को ब्रह्मस्वरूप देख लेने का अभिप्राय है पूर्णता की अवस्था में जग जाना।

जिसने अपने पूर्ण स्वरूप को जान लिया, उसका भवरोग समाप्त हो जाता है। अब उसे

न अन्य कुछ पाने की आवश्यकता है, न और भोगों के माध्यम से तृप्त होने की इच्छा शेष रहती है। अतः इसी को जीवन का परं पुरुषार्थ जानते हुए समस्त प्रयास इसी ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में होने चाहिए। आरम्भ में कर्म के क्षेत्र में रहते हुए इस ज्ञान के लिए पात्रता जगाई जाती है। तत्पश्चात् समस्त संकल्पों से रहित होकर गुरु के श्रीचरणों में बैठ़ कर इस तत्त्व को ही जानना चाहिए।